।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष पाँचवाँ — पौष
अंक नवमाँ — २४७६

चैतन्य भगवान के दर्शन

जिसने ज्ञान को विकार का कर्ता माना है, उस जीव ने आत्मा और ज्ञान के बीच भेदरूप पर्दा रखा है। जिस प्रकार जिनप्रतिमा के सन्मुख यदि पर्दा डालकर देखें तो उसका रूप स्पष्ट दिखायी नहीं देता; उसी प्रकार इस आत्मा का स्वभाव चैतन्यमय-जिनबिम्ब है; परन्तु 'विकार मेरा स्वरूप'– ऐसा मिथ्यामान्यतारूपी पर्दा सन्मुख डालकर देखनेवाले को यह नहीं दिखायी देता कि स्वतः चैतन्य भगवान है; किन्तु विकारी ही प्रतिभासित होता है। वह जीव ज्ञान और आत्मा के बीच मिथ्यात्वरूपी पर्दा रखता है, इससे उसे चैतन्य भगवान के दर्शन नहीं होते। वह पर्दा हटाकर सच्ची मान्यता से देखे तो अपना ही आत्मा भगवान है – वह ज्ञात होता है। (भेदविज्ञानसार)

एक अंक
चार आना

५७

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

अनेकान्त मुद्रणालय : मोटा आंकड़िया

इस अंक के लेख

१- नवतत्त्व

२- मुनिवरों का सहज वैराग्य

३- आत्मा का सदा पैसा इत्यादि परवस्तुओं के बिना ही चलता है।

४- हेय-उपादेय तत्त्व का स्वरूप

५- भगवान महावीर ने किस प्रकार मोक्ष प्राप्त किया?

सत् की दुर्लभता : श्रोता की पात्रता

यह बात आत्मस्वभाव की है, किन्हीं अन्य सम्प्रदायों के साथ या लौकिक बातों के साथ इसका किंचित् मेल नहीं मिल सकता; और यह बात अन्यत्र यहाँ-वहाँ से मिले ऐसी नहीं है। तथा जिसे आत्मकल्याण से प्रयोजन है, भवभ्रमण का डर है – ऐसे आत्मार्थी के अतिरिक्त अन्य जीवों को यह बात नहीं बैठ सकती। ऐसे मनुष्य अवतार में आया और परम दुर्लभ सत्यवाणी सुनने का योग मिला; इस समय भी यदि स्वभाव की रुचि से यह बात न सुने – न समझे तो कब सुने-समझेगा? अनन्तकाल में भी ऐसी बात सुनने को मिलना दुर्लभ है। [भेदविज्ञानसार]

पौष
२४७६

आत्मधर्म

वर्ष पाँचवाँ
अंक-९

नवतत्त्व

[पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

अर्थात् चैतन्यगुण से विपरीत गुणवाले अचेतन पदार्थ जगत् में हैं। जिस प्रकार 'आत्मा ज्ञाता है'– ऐसा जानने योग्य है, उसी प्रकार न जाननेवाले शरीर, वाणी, कर्म इत्यादि अजीवतत्त्व हैं, वे भी जानने योग्य हैं। इस प्रकार जीव और अजीव, ऐसे दो तत्त्वों के जो स्वीकार न करे, उसे शरीरादि अजीव पदार्थों से भिन्न इस आत्मा का भेदज्ञान करना नहीं रहता–आत्मा को पर से पृथक् करने की बात नहीं रहती।

'मैं शुद्ध, ज्ञायकमात्र आत्मा हूँ। मुझे अपनी अवस्था में व्यक्त परमान्द प्रगट करना है'– ऐसी ध्वनि उठते ही नव पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं, वह यहाँ बतलाना है।

(७) जीव-अजीव और उनके गुण-पर्याय

आत्मा का स्वभाव जानना, देखना, शांति, सुख इत्यदि है, वह ज्ञाता-दृष्टापन अपने स्वभाव में ही रुका हो तो उसे शांति-सुख या मुक्ति प्रगट करना नहीं रहे; परन्तु अज्ञान के कारण अनादि से अपने को न जानने के कारण जड़ में अपना अस्तित्व मानकर शरीरादि परपदार्थों के लक्ष्य में रुकता है। आत्मा का त्रिकाली द्रव्यस्वभाव, आत्मा के गुण और आत्मा की पर्यायों का वास्तविक स्वरूप न जानने से, अज्ञानी आत्मा–जड़वस्तु, जड़ के गुण और जड़ की दशाएँ – इस प्रकार जड़ के तीन प्रकार हैं, उनमें अपना अस्तित्व मानता है। 'मैं ज्ञाता-दृष्टा आत्मा हूँ, ज्ञातारूप से ज्ञात होऊँ उतना ही मैं हूँ, शरीरादि जड़पदार्थ, उनके गुण और उनकी अवस्थाएँ मुझसे पर हैं, मैं उनसे पृथक् हूँ, मैं नित्यस्थायी पदार्थ हूँ। ज्ञान, दर्शन, सुखादि अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ, मैं अपनी वर्तमानदशा में 'जड़ में सुख है - इन्द्रियों में सुख है' – ऐसा अज्ञान के कारण मानता था, वह अज्ञानदशा बदल सकती है कि मैं शरीरादि जड़ पदार्थ नहीं हूँ, तथा राग-द्वेषादि

विकारी भाव मेरा स्वरूप नहीं है, उनमें मेरा सुख नहीं है, मेरा सुख मुझमें हैं – इस प्रकार यदि आत्मा वस्तु, उसके गुण और उसकी अवस्था को शरीर के द्रव्य-गुण-अवस्था से भिन्न-स्वतन्त्र स्वीकार करे तो आत्मा का धर्म समझ सकता है, नहीं तो आत्मा का धर्म नहीं समझ सकता। इसलिए धर्म समझने के जिज्ञासुओं को प्रथम जीव–अजीवादि नव पदार्थों का स्वरूप यथार्थ समझना चाहिए। उनमें सबसे पहले के जीव-अजीव दो पदार्थ सिद्ध किये जाते हैं।

जिस प्रकार जाननेवाला जीव पदार्थ है, उसी प्रकार न जाननेवाला अजीव पदार्थ भी जगत में है, उसमें उसके गुण, शक्तियाँ भी हैं। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इत्यादि जड़ के गुण हैं। यहाँ, जो चैतन्यस्वभाव है, वह आत्मा है और स्पर्शादि स्वभाववाला जड़ है। जड़ में यहाँ पुद्गल की ही बात कहना है। धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि चार द्रव्य हैं, उनकी बात नहीं है। पुनःश्च जिस प्रकार आत्मा में प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न भाव होते हैं– आत्मद्रव्य में अवस्थाएँ बदलती हैं, उसी प्रकार प्रतिक्षण जड़ पदार्थ भी बदलता है। यदि जड़पदार्थ शरीर, वाणी, धन, मकानादि बदलते न हों तो आत्मा में होनेवाले भिन्न-भिन्न भाव अच्छे-बुरे भावों का निमित्त नहीं रहता। अच्छे-बुरे विकारी भावों में, जड़ के द्रव्य–गुण त्रिकाली होने से निमित्त नहीं होते। विकार वर्तमान होने से जड़ का वर्तमान अर्थात् जड़ की वर्तमान बदलती हुई दशा अच्छे-बुरे का निमित्त होती है, इसलिए आत्मा की भाँति जड़ भी बदलता है – ऐसा स्वीकार करना चाहिए। जड़ का परिणमन स्वीकार न किया जाये तो ज्ञान का ज्ञेय और भूल का निमित्त भी सिद्ध नहीं होगा; ऐसा होने से भूल भी सिद्ध न होगी, और यदि भूल ही सिद्ध न हो तो फिर किसे दूर करेगा?

मैं शुद्ध हूँ – ऐसा निर्णय किया वहाँ, मुझमें अशुद्धदशा थी, उसके निमित्त थे, अच्छे-बुरे भाव थे और उनके निमित्त भी थे; जिसप्रकार मेरे अच्छे-बुरे भाव बदलते हैं, उसी प्रकार सामनेवाले निमित्त भी बदलते हैं। यदि निमित्तों में परिवर्तन न होता तो यह अच्छा है, यह बुरा है, पहले निरोगता के कारण यह स्त्री ठीक थी और वर्तमान में रोग होने से ठीक नहीं है – ऐसी कल्पना न हो। इसलिए सामनेवाले जड़ पदार्थ भी बदलते है। इस प्रकार जीव और अजीव दो प्रकार के द्रव्य वस्तुरूप से अनादि-अनन्त हैं और उनमें प्रतिक्षण दशाएँ बदलती रहती हैं, इससे उन दोनों की नित्यता और परिणामीपना – दोनों सिद्ध होते हैं।

मैं ज्ञाता-दृष्टा पदार्थ हूँ, आनन्द मेरा स्वभाव है, मुझे उसका आनन्द लेना है। संसार में अज्ञानी जीव भी स्त्री का या रोटी का स्वाद नहीं लेता, परन्तु मुझे इसमें सुख है – ऐसी मिथ्या मान्यतारूप आकुलता का स्वाद लेता है। अज्ञानी जीव भी लड्डु, पेड़े आदि नहीं खाता, मात्र आकुलता का उपभोग करता है। जिसे आत्मा के आनन्द को भोगना हो–आत्मा के आनन्द का

अनुभव करना हो, उसके लिए प्रथम आत्मा को यथार्थ समझने की यह बात है। दाल, भात इत्यादि अच्छे-बुरे पदार्थ पर हैं। यदि वे परिवर्तित न होते हों– जड़ पदार्थ में स्थायी रहकर बदलने की शक्ति उनमें न हो तो वे शुभ-अशुभ विकार में निमित्त नहीं हो सकते; किन्तु अच्छी–बुरी आदि अनेक प्रकार की विकारी प्रवृत्तिओं में अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न जड़ पदार्थों की अवस्थारूप निमित्त तो देखने में आते हैं, इसलिए काली-सफेद, कड़वाँ-मीठी इत्यादि भिन्न-भिन्न अवस्थारूप से बदलने का जड़ का स्वभाव है, इस प्रकार अजीवतत्त्व को जानना चाहिए।

मुझे आत्मा की सुख-शांति चाहिए है, आकुलता नहीं चाहिए; उसमें जीव, अजीव तथा विकारी और अविकारी अवस्थाएँ–इन सबकी सिद्धि होती है और उसी में नवतत्त्वों का समावेश हो जाता है। उसमें से जीव और अजीव ऐसे दो पदार्थ सिद्ध हुए।

मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, स्वभाव से शुद्ध हूँ, मेरा सुख अन्तर चैतन्यस्वभाव में है; उसे व्यक्त करके मैं सुखी होना चाहता हूँ; इस प्रकार आत्मा को और उसके त्रिकाली स्वभाव को न जाने तो वह सुख प्रगट नहीं कर सकता। और, त्रिकाली स्वभाव शुद्ध होने पर भी वर्तमान अवस्था में पर को अपना मानकर मलिनता करता है, पर में सुख मानता है। वहाँ, पर-शरीरादि अजीव पदार्थ जिनकी ओर स्वतः लक्ष्य करके मलिनता – अज्ञान राग-द्वेष करता है, वे भी सिद्ध होते हैं। वर्तमान अवस्था में अशुद्धता– दुःख और उसके निमित्त हैं, उन्हें यदि न जाने तो भी दुःख को दूर करके सुख प्रगट करने का प्रयत्न नहीं करेगा।

(८) भ्रम

कितने ही जीवों का अभिप्राय है कि ''जगत में सर्वव्यापी एक ब्रह्म है, और जो यह सब दिखायी देता है, सो सब भ्रम है; वास्तव में यह कोई पदार्थ नहीं है। जिस प्रकार डोरी में सर्प का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार यह सब भ्रम है।'' वास्तव में उनका यह अभिप्राय मिथ्या है, क्योंकि रस्सी में सर्प का भ्रम होता है तो सर्प का अस्तित्व अन्यत्र है या नहीं? यदि जगत में अन्यत्र कहीं सर्प का अस्तित्व ही न हो तो सर्वथा असत् पदार्थ की रस्सी में कल्पना कैसे हो? नहीं होती। रस्सी को ही सर्प मानना, वह भ्रम हैं; क्योंकि रस्सी में सर्प का अभाव है, परन्तु सर्प में सर्प का अभाव नहीं है, जगत में तो सर्प का अस्तित्व है। इसी प्रकार आत्मा में शरीरादि अजीव पदार्थों का अभाव है, परन्तु जगत में उनका अभाव नहीं है। अजीव पदार्थ का अपना अपने में अस्तित्व तो है ही, वह सर्वथा भ्रम अर्थात् असत् नहीं है, परन्तु उस अजीव को अपना मानना, सो भ्रम है। जिस प्रकार जगत में भिन्न-भिन्न अनेक आत्मा हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न अजीव पदार्थ भी हैं।

जगत में रस्सी भी है, सर्प भी है और रस्सी में सर्प माननेरूप भ्रान्ति भी है। इसी प्रकार इस विश्व में अनन्त जीव पदार्थ हैं, भ्रान्ति में निमित्त अजीव पदार्थ हैं और भ्रान्तिरूप जीव की विकारीदशा भी है; इस प्रकार जीव, अजीव और जीव की भूल – यह तीनों सिद्ध होते हैं।

(९) जीव - अजीव के अंक और अक्षर

जिस प्रकार अंक और अक्षरों के ज्ञान से रहित मनुष्य हिसाब का कार्य नहीं कर सकता, उसी प्रकार आत्मा के अंक और अक्षर जाने बिना उसे पहचाना नहीं जा सकता। यहाँ ''अङ्क'' का अर्थ है आत्मा का चिह्न-लक्षण अथवा पहचान। आत्मा का चिह्न-लक्षण क्या है? इसका जब तक ज्ञान न करे, तब तक उसे धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। ज्ञान-दर्शन आत्मा की पहचान है, जानना-देखना आत्मा को बतलानेवाला लक्षण है।

'अक्षर' जिसका नाश न हो वह 'अक्षर' है। जीव और जड़ दोनों अक्षर अविनाशी हैं। जीव और जड़ के चिह्न तथा उनका अविनाशी स्वभाव जाने बिना आत्मा और पर को नहीं समझा जा सकता। आत्मा और जड़ का लक्षण क्या है? उसे जाने बिना आत्मा को जड़ से पृथक नहीं जाना जा सकता, और यदि आत्मा को जड़ से पृथक् न जाने तो उसे सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की प्रथम सीढ़ी भी नहीं मिलती। जड़ पदार्थ जोकि शरीरादि अनेकरूप है, उसका लक्षण स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण इत्यादि है, उस चिह्न के द्वारा वह जड़ है –अचेतन है – ऐसा जाना जा सकता है और चैतन्य लक्षण द्वारा जीव को पहचाना जाता है।

भगवान आचार्यदेव जगत के जीवों को संबोधन करके कहते हैं कि हे जीवो! अनन्तकाल से अपना आत्मा वास्तव में क्या वस्तु है, और उसके अस्तित्व का क्या स्वरूप है – वह तुमने कभी नहीं जाना, यदि वह जाना हो तो विकार और दुःख नहीं रहे। विकार और दुःख तो वर्तमानदशा में है, और उसका निमित्त जड़ पदार्थ है। स्पर्श, रस इत्यादि उसका लक्षण है। स्पर्शादि द्वारा जड़ को और ज्ञानादि द्वारा आत्मा को – इस प्रकार दोनों को पृथक् करके न जाने तो धर्म नहीं होता, इसलिए धर्म करने के जिज्ञासु जीव को प्रथम ही आत्मा और जड़ पदार्थ को यथार्थ रीति से भिन्न-भिन्न समझना चाहिए।

समझ, अर्थात् धर्म पर से नहीं होता, क्योंकि भूल करनेवाला भी स्वयं है, और उसे दूर करके धर्म का करनेवाला भी स्वयं है।

(१०) जीव में विकार और उसका निमित्त

भूल होती तो आत्मा की दशा में है, परन्तु यदि परपदार्थ निमित्त न हो तो किसके लक्ष्य से

भूल होगी? परलक्ष्य के बिना मात्र स्वभाव के लक्ष्य से भूल नहीं होती। यदि मात्र स्वतः से ही भूल हो तो भूल स्वभाव हो जाये, परन्तु वैसा नहीं है। जिस प्रकार आत्मा नित्यस्थायी पदार्थ है, वैसे ही भूल में निमित्त अजीवद्रव्य नित्यस्थायी है।

जिसप्रकार जीव भूल को प्रतिक्षण बढ़ाता रहता है, उसी प्रकार उसका निमित्त भी प्रतिक्षण अपनी अवस्था को बदलकर स्थित रहनेवाला है। यदि सामनेवाला अजीवद्रव्य बदलता न हो तो आत्मा के सदैव भूल होती जाये, इसलिए अजीव निमित्त भी एक अवस्थारूप न रहकर नित्य-स्थायी रहकर बदलता है। जीव वैसा लक्ष्य छोड़कर स्वभावोन्मुख हो, तब उसे अजीव का निमित्त नहीं रहता, अर्थात् सामनेवाला निमित्त भी नित्यस्थायी रहकर अन्य दशारूप परिवर्तित हो जाता है, और जीव भी नित्यस्थायी रहकर बदल जाता है। इस प्रकार सामनेवाला अजीवद्रव्य भी नित्यस्थायी पदार्थ सिद्ध होता है।

इस प्रकार जो न्याय से समझना चाहे उसे बराबर समझ में आता है कि आत्मा और जड़ –ऐसे दो प्रकार के पदार्थ हैं, उनके भिन्न-भिन्न लक्षण हैं; दोनों में नित्यता है। जीव में मोह-राग-द्वेष विकार पलटता है और विकार का निमित्त जो कर्म-अजीव पदार्थ है, वह भी परिवर्तित होता है। यदि अजीव पदार्थ स्थायी न हो तो उसका परिवर्तन भी न हो, और परिवर्तन न हो तो उसके विकार में निमित्तपना भी न हो; यदि विकार का निमित्त न हो तो विकार भी न हो, क्योंकि विकार केवल जीव स्वभाव से नहीं होता, परन्तु पर-अजीव के लक्ष्य से होता है; इसलिए सामनेवाला अजीव पदार्थ भी स्थायी है, और उसकी भिन्न-भिन्न अवस्था प्रतिसमय होती रहती है।

आत्मा त्रिकाल अस्तित्व रखनेवाला पदार्थ है। उसका लक्षण ज्ञाता-दृष्टापना है। जड़ से भिन्नप्रकार का उसमें चिह्न हो तो वह जड़ से पृथक किया जा सकता है; और वह अवस्था में बदलता हो तो बदलकर सुखी हो और दुःख को दूर करे। इस प्रकार आत्मद्रव्य, उसके ज्ञानादि गुण और उसकी प्रतिसमय बदलेवाली अवस्था–इन तीनों का पिण्ड आत्मा है। उसी प्रकार जड़द्रव्य, उसके स्पर्शादि गुण और उसकी बदलनेवाली पर्याय – इन तीनों का पिण्ड, सो अजीव-जड़ है। इस प्रकार जीव और अजीव दो तत्त्व सिद्ध हुए।

(११) पूर्ण सुख की प्राप्ति का उपाय

पुनःश्च, जीवद्रव्य में प्रतिसमय अवस्था बदलती है। वह अवस्था मलिन और निर्मल ऐसे दो प्रकार की होती है। अज्ञान और रागद्वेषादि के कारण मलिन होती है और अज्ञान–रागद्वेषादि के दूर होने पर निर्मल होती है; इस प्रकार जीवद्रव्य में मलिन और निर्मलदशारूप दो प्रकार न माने

जायें तो उसे अज्ञान-राग-द्वेषादि अर्थात् दुःखों को दूर करना और ज्ञान-वीतरागता अर्थात् सुख-प्राप्त करना–ऐसा कुछ रहता ही नहीं; इसलिए जीव में मलिन-दुःखरूप अवस्था है, और उस दुःखरूप अवस्था को दूर करके निर्मल-सुखरूप अवस्था उसे प्रगट करना है। जीव, उसकी पुण्य-पाप-आस्रव–बंधरूप विकारी अवस्था, विकार का निमित्त अजीव, विकाररहित साधक अवस्था-निर्मलदशा-संवर, निर्जरा और पूर्ण निर्मलदशा–मोक्ष, इन नवतत्त्वों का यथार्थस्वरूप जैसा है, वैसा समझकर नवभेद के विकल्प से रहित अपने शुद्ध आत्मा की यथार्थ जानना, वह सुख प्रगट करने का सच्चा उपाय है। और इस प्रकार आत्मा को पहचानकर आत्मा में बारम्बार स्थिरता का अभ्यास करके सम्पूर्ण राग-द्वेष को दूर करना, सो पूर्ण सुख प्राप्त करने का उपाय है।

जीव विकारदशा में, पर-अजीव के लक्ष्य से सुख-दुःख की कल्पना करता है; इससे उसे एक समय की विकारी मलिन अवस्था है। यदि एक समय की मलिन अवस्था जीव में न मानी जाये तो उस मलिन अवस्था का नाश करूँ और निर्मल अवस्था प्रगट करूँ अर्थात् शरीरादि अजीव पदार्थों का लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होऊँ–ऐसे भाव का अस्तित्व नहीं रहता।

(१२) पापतत्त्व

जीव और अजीव दो पदार्थ सिद्ध हुए। जीव का लक्ष्य पर-अजीव की ओर था, वहाँ हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रहादि के पापभाव क्षणिक होते थे। यदि वे पापभाव स्वीकार न किये जायें तो उन हिंसादि पापभावों को दूर करके मैं धर्म करूँ–ऐसा भाव ही उसके न हो; परन्तु जीव के हिंसादि पापभाव छोड़ने का भाव होता है, इसलिए पापतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है।

हिंसा, झूठ इत्यादि भाव जीव में होते हैं, वह कुछ है या नहीं? वे पापरूप भाव आत्मा की विकारी पर्याय है। पाप पर में नहीं होता, आत्मा की क्षणिक दशा में होता है। यदि आत्मा की क्षणिक दशा में पापतत्त्व के अस्तित्व की स्वीकृति करे तो 'मुझे पाप नहीं करना है'–ऐसी ध्वनि निकले, किन्तु यदि वर्तमान क्षणिक अवस्था में पापतत्त्व को स्वीकार न किया जाये तो 'मुझे पाप नहीं करना है'–ऐसी ध्वनि भी न हो। इसलिए पापतत्त्व है।

स्वभाव से च्युत होकर जीव का स्त्री-पुत्र-मकानादि पर लक्ष्य जाता है, उस सम्बन्धी राग-द्वेष होता है, उस भाव को अर्थात् पाप को स्वीकार न करे तो उसे धर्म करने का प्रसंग ही नहीं रहता।

(१३) मलिनतत्त्व और निर्मलतत्त्व

पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष–यह सातत्त्व त्रिकाली पदार्थ नहीं हैं, परन्तु त्रिकाली जीव पदार्थ की क्षणिक अवस्थाएँ हैं। उनमें पुण्य-पाप, आस्रव और बंध मलिनभाव हैं, संवर, निर्जरा अपूर्ण निर्मलभाव हैं और मोक्ष पूर्ण निर्मलभाव है। मोक्ष होने के पश्चात् जीव अनन्तकाल सदैव परिपूर्ण निर्मल ही रहता है, फिर कभी उसे किंचित् मलिनता नहीं होती। मलिन चार भाव कहे हैं, उन्हें यदि न माना जाये तो विकाररहित होकर स्वभाव को–परिपूर्ण निर्मल दशा को प्रगट करना नहीं रहता, क्योंकि एकसमय की अवस्था में मलिनता माने तो स्वभाव की पहिचानकर मलिनता को दूर करने का उपाय करे, किन्तु यदि मलिनता को ही न माने तो उपाय किसका करेगा?

पुनश्च, उस पाप भाव का अस्तित्व जीव की अपनी दशा में है। पाप शरीर, पुत्रादि में नहीं रहता; अपनी वर्तमानदशा में होता है। अपनी क्षणिकदशा में पाप का अस्तित्व स्वीकार न करे तो '' यह विकार क्षणिक है, मेरा स्वभाव त्रिकाली ध्रुव है; उसमें यह क्षणिक विचार नहीं है''–ऐसी स्वीकृति न आये और उस स्वीकृति के बिना ''मुझे त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख होना है''–ऐसा उसे नहीं रहता। इसलिए जीव को क्षणिकदशा में पापभाव होते हैं, यह सिद्ध होता है।

जीव और अजीव यह दो मूल पदार्थ हैं। पुण्य-पाप इत्यादि पदार्थ अजीव के सद्भावरूप निमित्त से या अभावरूप निमित्त से होनेवाली जीव की अवस्थाएँ हैं। उसमें पापरूप अवस्था को सिद्ध किया। (अपूर्ण)

मुनिवरों का सहज वैराग्य

[नियमसार गाथा 38 पर पूज्यश्री कानजीस्वामी के व्याख्यानों से]

अपने शुद्धात्मा को ही उपादेय जानकर उसी में लीन होनेवाले मुनिवर कैसे होते हैं–उसका वर्णन करते हैं। वे मुनि, सहज वैराग्यरूपी महल का जो शिखर है, उसके शिखामणि हैं। स्वभाव की भावना होने से परभावों के प्रति स्वभाविक वैराग्य होता है। स्वभाव के भान बिना बाह्य में त्याग कर दिया हो तो वह कहीं वैराग्य नहीं है। स्वभाव के भान बिना कषाय की मन्दता करके त्यागी हो जाये, तथापि वह सहज वैराग्य नहीं है और उसका त्याग सच्चा त्याग नहीं है। जिसके शुद्धात्मा का ग्रहण नहीं है, उसके परभावों का त्याग नहीं होता। परभावों को ही जो उपादेय मानता है, उसके वैराग्य कैसा?

सहज ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, मेरा स्वरूप जड़ रजकणों में अथवा राग में नहीं है। पंचमहाव्रत का पालन करूँ–ऐसा विकल्प भी राग है–बंधन है, वह मेरा स्वरूप नहीं है;–ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव के भान में ज्ञानी को सहज वैराग्य होता है। चौथे गुणस्थान से ही सहज वैराग्य होता है। सम्यग्दर्शन सहज वैराग्यरूपी महल का पाया है और मुनि तो उस सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के मणि समान हैं। उनकी परिणति अपने सहज स्वभाव में अत्यन्त ढ़ल गई है। स्वभाव से ही स्वभाव में आकर जिनकी परिणति पर से उदास हो गई है–ऐसे वैराग्य-शिरोमणि मुनिवरों को एक अन्तरतत्त्व ही उपादेय है।

किसी ने एक बाबाजी से एकान्त में पूछाः–बाबाजी! कैसी माला फेर रहे हो? बाबाजी ने उत्तर दिया–जैसी आदमियों की भीड़ हो वैसी! तात्पर्य यह हुआ कि–यदि अधिक भीड़ हो तो बहुत एकाग्रता का दम्भ करता है और यदि थोड़े से आदमी हों तो माला को एक ओर रख देता है। यह लोगों को दिखाने के लिए दम्भ हैं, यह पापभाव है। जो लोगों को दिखाने के लिए दम्भ न करे किन्तु अपने परिणामों में ही कषाय की मन्दता करके त्यागी हुआ हो और उससे धर्म मानता हो–ऐसे जीव के भी सच्चा वैराग्य नहीं है। जिस जीव को अन्तर में एक शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में भी उपादेय-बुद्धि नहीं है, उसी के सच्चा वैराग्य होता है। ऐसे सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के मणि समान मुनिवरों को शुद्धात्मा ही उपादेय है। शुद्धात्मा को उपादेयरूप से जानना ही धर्म है।

शुद्ध आत्मा ही जिन्हें उपादेय है–ऐसे योगीश्वर परद्रव्यों से पराङ्मुख होते हैं। इस जीव को अपने अन्तरस्वभाव के अतिरिक्त किसी अन्य की शरण नहीं है, किसी पर के साथ सम्बन्ध नहीं

है, देव-गुरु-शास्त्र भी इस जीव को शरणभूत नहीं हैं, स्वतः अन्तरतत्व है और समस्त परद्रव्यों से उदासीन है। मुमुक्ष जीवों को सच्चे देव-गुरु के गुणों की अधिकता देखकर उनके प्रति प्रमोद और भक्तिभाव आता तो अवश्य है। निम्नदशा में यदि गुणों की अधिकता देखकर उसके प्रति प्रमोद भाव और भक्ति जागृत न हो तो शुष्क है, उसे वास्तव में गुण की रुचि नहीं है। परन्तु देव-गुरु के प्रति जो प्रमोदभाव होता है, वह भी राग है, उस राग को यदि शरणभूत माने तो वह अज्ञान है। यदि पर को शरणभूत मानेगा तो पर से उदासीन होकर अपने स्वरूप का आदर कहाँ से करेगा? और यदि देव-गुरु के प्रति जो शुभराग है, उसे अपना कर्तृव्य मानेगा या उससे कल्याण मानेगा, तो वह राग का आदर छोड़कर अपने स्वरूप का आदर कब करेगा? इसलिए सभी निकट भव्य जीवों को एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। जो जीव अपने सहज स्वभाव के सन्मुख होने से समस्त परद्रव्यों से पराङ्मुख हो गया, अर्थात् एक स्वभाव को ही उपादेय रखा और अन्य सबको बहिरतत्व जानकर उनकी श्रद्धा छोड़ दी है, वह धर्मी है।

शुद्धात्मा को उपादेय जाननेवाले मुनिवर उत्कृष्ट वैराग्यवन्त होते हैं, परद्रव्यों से पराङ्मुख होते हैं—यह बात हुई। पुनश्च, वे मुनिवर कैसे हैं? पंचेन्द्रियों के विस्तार से रहित हैं, और मात्र शरीर का ही परिग्रह है। मुनि के पाँच इन्द्रियाँ तो होती हैं परन्तु उनका विस्तार नहीं है अर्थात् पाँच इन्द्रियों के रस, रूप आदि विषयों की ओर से उनकी परिणति रुक गई हैं, उनके मात्र शरीर का ही परिग्रह है। मोर पींछी और कमण्डल होते हैं, परन्तु वे अपने शरीर की रक्षा के हेतु नहीं है।

और उन मुनिवरों की बुद्धि स्वद्रव्य में लीन है। पहले अज्ञानदशा में पर को अपनेरूप मानकर और रागादि को आत्मा का स्वरूप मानकर ज्ञान वहाँ लीन होता था, अब भेदज्ञान द्वारा शुद्धात्मस्वभाव को ही उपादेय जानकर, ज्ञान को परद्रव्यों की लीनता में से हटाकर स्वद्रव्य में जोड़ा है और शुद्धात्मस्वरूप के विशेष अनुभव द्वारा ज्ञान को स्वद्रव्य में लीन किया है—इस प्रकार जिन्होंने अपने ज्ञान को अपने में ही युक्त कर लिया है—ऐसे वे वीतरागी संत-सातवें-छट्ठे गुणस्थान में आत्मानन्द में झूलते हैं; प्रतिक्षण विकल्प तोड़कर शुद्धात्मा का साक्षात् अनुभव करते हैं; उन मुनिवरों ने मिथ्यात्व और कषाय को जीत लिया है, इसलिए वे परम जिन हैं; और स्वद्रव्य में युक्त होने से वे योगी हैं; ऐसे परम जिन योगीश्वरों को एक शुद्धात्मा ही आदरणीय है, इसके अतिरिक्त अन्य सब परद्रव्य और परभाव हैं; वह बहिरतत्व है, वह आदरणीय नहीं है।

इस गाथा में उपादेयरूप शुद्धात्मा का वर्णन किया है, और साथ ही साथ मुनिदशा कैसी होती है और आसन्नभव्य जीव कैसा होता है—उसका भी वर्णन आ जाता है। योगीश्वरों को एक

शुद्धात्मा ही अंगीकार करने योग्य है–ऐसा मुनि का दृष्टान्त लेकर आचार्यदेव कहते हैं कि समस्त आसन्न-भव्य जीवों को निज कारणपरमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।

जिस प्रकार मुनिवरों को एक शुद्ध परमात्मा ही उपादेय है, उसी प्रकार समस्त आसन्नभव्य जीवों को अपना शुद्ध परमात्मस्वभाव ही उपादेय है। जो शुद्ध परमात्मस्वभाव को नहीं जानते और उसके अतिरिक्त अन्य को उपादेय मानते हैं, वे जीव आसन्नभव्य नहीं किन्तु दूरभव्य हैं। निम्न साधकदशा में शुभ या अशुभभावों में भी युक्तता होती हो, किन्तु जो अत्यन्त निकट भव्य हैं–ऐसे जीव अन्तरश्रद्धा में एक शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भाव को अपना स्वरूप नहीं मानते, उनको शुद्धात्मा का ही आदर है और अन्य सभी भावों का निषेध है। साधक की दृष्टि का बल शुद्धस्वभाव में ही है। संत-मुनिदशा जैसी आत्मस्थिरता न हो सके तो हे जीव! श्रद्धा तो ऐसी ही रखना कि मुझे एक शुद्ध कारणपरमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी आदरणीय नहीं है। यदि जीव अपने शुद्ध स्वभाव को आदरणीय मानकर उसकी श्रद्धा और ज्ञान करेगा तो उस ओर के विशेष पुरुषार्थ से उसमें स्थिरता करने से अशुद्धभाव दूर हो जायेंगे और मुक्ति हो जायेगी; परन्तु यदि शुद्धात्मा के अतिरिक्त दूसरे भावों को आदरणीय मानेगा तो कभी भी शुद्धभाव प्रगट नहीं होगा।

नासमझ बालक के पास हजार रुपयों के मूल्य का हार हो, परन्तु यदि कोई उसे दो पैसे का पेड़ा दे, तो वह हार उसे दे देगा, क्योंकि उसने हार का मूल्य नहीं जाना है; और पेड़ा मीठा लगता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव ने अपने अखण्ड एक निरपेक्षस्वभाव की महिमा नहीं जानी है, इससे वह पर्याय जितना ही आत्मा को मानकर सम्पूर्ण स्वभाव को भूल जाता है, उसे राग की, पुण्य की मिठास है। एक क्षणिक विकल्प को सम्पूर्ण आत्मा दे देना, वह अज्ञान है–दुःख है–अधर्म है; और 'मैं विकल्प जितना नहीं हूँ, मैं तो विकल्प से पार सदा एकरूप रहनेवाला हूँ'–ऐसे श्रद्धा-ज्ञान द्वारा पूर्ण आत्मा को विकार से पृथक् स्थिर रखना, सो सम्यग्दर्शन है–सुख है–धर्म है। जब तक इसकी पहचान और महिमा न करे कि अपना पूर्ण स्वभाव कैसा है; तब तक जीव को धर्म नहीं होता।

आत्मा का सदा पैसा इत्यादि परवस्तुओं के बिना ही चलता है!

[पूज्य श्री कानजी स्वामी का व्याख्यान]

शरीर में रोग हो, पुत्र मरे, इत्यादि चाहे जैसी प्रतिकूलता के समय भी उसमें राग-द्वेष न करके, स्वभाव के लक्ष्य से ज्ञात-दृष्टा रहकर ज्ञानीजीव अन्तर में अनाकुल शांति का वेदन करते हैं। उस शांति का वेदन होने की शक्ति किसी संयोग में नहीं है, परन्तु स्वभाव में वैसी शक्ति है। अनुकूलता या प्रतिकूलता में राग-द्वेष किये बिना, ज्ञाता-दृष्टारूप रहकर शांति का वेदन करने की शक्ति चैतन्य में ही है। इससे वह चाहे जिस वस्तु के अभाव में भी स्वतः अपनी शांति का वेदन करने के लिए समर्थ है। इसलिए सभी वस्तुओं के बिना ही आत्मा का चलता है। पैसे के बिना नहीं चलता–ऐसा अज्ञानी मानते हैं; परन्तु वह बात बराबर नहीं है। जगत में आत्मा है और पैसा भी है; परन्तु आत्मा पैसारूप नहीं है, इससे आत्मा त्रिकाल पैसे बिना ही स्थिर है; आत्मा अपने स्वभाव से ही है; पैसा है, इसलिए आत्मा है–ऐसा नहीं है। आत्मा अपने स्वभाव से स्थिर है और पैसा पैसे से स्थिर है; एक का दूसरे में अभाव है; परन्तु मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता–ऐसी अज्ञानी की कल्पना है, वही दुःख है। आत्मा अनादि से है और आत्मा में पर का अभाव अनादि से है। परवस्तु अनादि से है; परन्तु आत्मा में उसका अभाव है, इसलिए आत्मा का सदा परवस्तु के बिना ही चलता है।

वस्तु अनादि-अनन्त है; वस्तु हो, उसका रूपान्तर होता है। आत्मा वस्तु अनादि से है, और उसका वर्तमान रूपान्तर भी अनादि से हो रहा हो। अनादि से ''मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता''–ऐसी कल्पनारूप से रूपान्तर हुआ है; उस कल्पना के बिना अज्ञानी का अनादि से नहीं चला है। मैं पर से स्थिर नहीं हूँ, परन्तु अपने से ही स्थिर हूँ; मेरा स्वभाव मुझ से परिपूर्ण है और पर से शून्य है, इसलिए मेरा अपने स्वभाव के बिना नहीं चल सकता–ऐसा माने तो अपने स्वभाव को पहचानकर उसका आश्रय करे और पराश्रय को दूर करके मुक्त हो।

जगत के जीवों को धर्म की कला का मूल्यांकन नहीं है। लौकिक कला का मूल्य जगत को लगता है, परन्तु धर्म की कला की महिमा नहीं है। कुम्हार के काम में वकील बुद्धिमानी नहीं करता और वकालत के काम में कुम्हार माथापच्ची नहीं करता; परन्तु धर्म में तो जो देखी वही बुद्धि लड़ाता है कि–ऐसा करो तो धर्म होगा, यह करो तो धर्म होगा; परन्तु पर से भिन्न आत्मा के भान बिना धर्म नहीं होता। और जिसे अपने आत्मा की पहचान न हुई हो, वह धर्म का सच्चा स्वरूप नहीं कह सकता।

आत्मा में से अन्य सब वस्तु को निकाल देना चाहिए कि वह मेरा स्वरूप नहीं है; इसके बदले अज्ञानी जीव 'मैं परवस्तु से स्थिर रहता है'–ऐसा मानकर पर के साथ अपना गुणाकार करता है। मैं अपने में हूँ, और पर का वियोग मुझमें अनादि है, तो फिर पुत्र था और उसका वियोग हुआ–ऐसा त्रिकाल में नही है; क्योंकि मुझमें त्रिकाल पुत्र का वियोग ही है।

जिस स्थान पर जाना हो, वहाँ का मार्ग छोड़कर दूसरे मार्ग चले तो वह निश्चित् स्थान नहीं पहुँचेगा; उसी प्रकार चैतन्य की पहिचान मुक्ति का मार्ग है, वह मार्ग छोड़कर अन्य मार्ग पर चले तो मुक्ति नहीं होगी।

आत्मा का त्रिकाल परवस्तु के बिना ही चल रहा है, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व परवस्तु के कारण नहीं है; परन्तु जीव को ऐसी मिथ्या कल्पना है कि मेरा पर के बिना नहीं चल सकता–यही दुःख का मूल है। प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु के बिना ही सदा चलाती है; परन्तु एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के बिना नहीं चल सकता–ऐसी मान्यता कुमार्ग है। मैं पर से भिन्न त्रिकाल स्वाधीन परिपूर्ण हूँ–ऐसी प्रतीति, वह सुमार्ग है, उस मार्ग में चैतन्य का प्रकाश है।

आत्मा एक पदार्थ है–ऐसा कहते ही सिद्ध हुआ कि वह पररूप नहीं है। पर कितने? कि एक आत्मा के अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थरूप से वह अभावरूप है–ऐसा भिन्नता का मार्ग लेना, सो मोक्ष सुमार्ग है। जिसे पर से भिन्न चैतन्यतत्त्व की प्रीति है, वह उत्कृष्ट स्थान प्राप्त करने के लिए पात्र है। परवस्तु के बिना ही मेरा चलता है–ऐसी प्रतीति हुई वहाँ ''यह संयोग मुझे अनुकूल है और अमुक प्रतिकूल है''–ऐसी कल्पना को स्थान नहीं रहा। मैं समस्त पदार्थों का ज्ञाता हूँ, ऐसा अभिप्राय हुआ। मेरा पर के बिना नहीं चल सकता–ऐसा विपरीत मान्यता के कारण जीव को स्वभावोन्मुख होने में अनादि से महान विघ्न हो रहा है। परवस्तु के बिना मेरा नहीं चल सकता–ऐसी मान्यता स्व-पर की एकत्वबुद्धि है और वही मिथ्यात्व है।

दो मनुष्यों के पुत्र-मरण का संयोग हुआ; वहाँ एक मनुष्य समाधान कर लेता है और दूसरा खेद करके आकुलित होता है। पुत्रमरण का संयोग हो, उस समय भी यदि आत्मा समाधान करना चाहे तो वह समाधान कर सकता है–ऐसी उसमें शक्ति है। चाहे जिसे संयोग के समय समाधान करने की शक्ति आत्मा में है, परन्तु जिसे उसका विश्वास नहीं है, वह 'मेरा पर के बिना नहीं चल सकता'–ऐसा मानता है, वही मिथ्याभाव है। यदि एकबार स्वभाव के भान द्वारा उस मिथ्यात्व का नाश करे तो अल्पकाल में मुक्ति हो जाये।

स्वयं सिद्ध चैतन्यतत्त्व स्वाधीन है, वह अन्य पदार्थ के बिना ही स्थिर है–इसका जिसे

विश्वास नहीं है, वह चैतन्य का ध्यान करने के लिए पात्र नहीं है। आत्मा में पर-वस्तु का तो त्रिकाल अभाव ही है और 'मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता'–ऐसी कल्पना का भी त्रिकाली स्वभाव में अभाव है, परन्तु एक समय की पर्याय में उसका सद्भाव है। विकार त्रिकाली स्वभाव में नहीं किन्तु पर्याय में है। इस विकारी पर्याय के बिना अनादि से एक समय भी नहीं चलाया, वही संसार है; इसके अतिरिक्त बाह्य पदार्थों में संसार नहीं है। जब ऐसा प्रारम्भ करे कि मेरे त्रिकाली स्वभाव में परवस्तु का अभाव है और विकार का भी अभाव है–ऐसी श्रद्धा हुई, तब विकार के बिना मेरा चल सकता है–ऐसा मेरा ज्ञानस्वभाव है–ऐसा भान हुआ; अर्थात् विकारहित स्वभाव की प्रतीति हुई–सम्यग्दर्शन हुआ। अब जो विकार होता है, उसे अपना स्वरूप नहीं मानता। अज्ञानी को क्षणिक विकार का प्रतिभास होता है, परन्तु विकाररहित ज्ञानमूर्ति आत्मा त्रिकाल ध्रुव है, उसकी महिमा भासित नहीं होती। जो विकार है, वह त्रिकाल स्वभाव नहीं है, परन्तु क्षणिक विभाव है। त्रिकालस्वभाव की अन्तरङ्गदृष्टि से परिणमित होना, सो धर्म है। अज्ञानी तो मानता है कि मेरा विकार बिना नहीं चल सकता, इससे उसे विकार की रुचि और त्रिकालस्वभाव का अनादर है, वह अधर्म है, उसके त्रिकालस्वभाव के अनादर का मिथ्यात्व है। धर्मी को त्रिकालस्वभाव का आदर है और क्षणिक विकार का अनादर है; उसके अल्प शुभाशुभभाव होते हैं, उन्हें वह स्वभाव से बहिरभाव जानता है, इससे विकार होते हुए भी उसे सच्ची श्रद्धा–ज्ञानरूप धर्म होता है। इसलिए आत्मार्थियों को त्रिकाल चैतन्यस्वभाव की रुचि और प्रतीति करना चाहिए। उसके विश्वास से स्वभाव का विकास और विकार का नाश होगा।

हेय-उपायेदय तत्त्व का स्वरूप

[नियमसार गाथा ३८ पर पूज्यश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों से]

नियमसार की इस ३८वीं गाथा में हेय-उपादेय तत्त्व का कथन है। अपना शुद्ध आत्मस्वभाव ही उपादेय है। जीव-अजीवादि सात-तत्त्व परद्रव्यरूप हैं, वे ग्रहण करने योग्य नहीं है।

प्रश्न :– सात तत्त्वों में 'जीवतत्त्व' भी आ जाता है, तो क्या वह भी परद्रव्य है?

उत्तर :– सहज ज्ञानस्वरूपी जीव तो स्वतत्त्व है, वह कहीं परद्रव्य नहीं है। यहाँ जीव के शुद्धस्वभाव को परद्रव्य नहीं कहा है, परन्तु 'मैं जीव हूँ'–ऐसा जो मनसम्बन्धी रागमिश्रित विचार है, उसे यहाँ जीवतत्त्व के रूप में मानकर परद्रव्य कहा है। 'मैं जीव हूँ–ऐसा जीव सम्बन्धी विकल्प आत्मतत्त्व में नहीं है, और उस विकल्प द्वारा आत्मतत्त्व अनुभव में नहीं आ सकता, इसलिए वह विकल्प हेय है। जीव स्वतः परद्रव्य नहीं है, परन्तु जीवतत्त्व सम्बन्धी जो विकल्प है, वह परद्रव्य है। शुद्ध जीवतत्त्व तो उपादेय है, परन्तु 'मैं जीवतत्त्व हूँ'–ऐसा विकल्प उपादेय नहीं है। इस अपेक्षा से जीवतत्त्व को हेय कहा है–ऐसा समझना।

दूसरा अजीवतत्त्व है, वह उपादेय नहीं है। जीव के अतिरिक्त दूसरे पाँच अचेतनद्रव्य हैं वे अजीव हैं। 'मैं अजीव नहीं हूँ'–ऐसा जो रागमिश्रित विकल्प है,वह परद्रव्य है, उस विकल्प के द्वारा अजीव से भिन्न जीवतत्त्व अनुभव में नहीं आता, इसलिए वह हेय है।

तीसरा आस्रवतत्त्व है। दयादि के शुभभाव अथवा हिंसादि के अशुभभाव-दोनों आस्रव हैं, वह जीव का स्वरूप नहीं है। आस्रव मेरा स्वरूप नहीं है, मैं आस्रव से 'पृथक् हूँ'–ऐसा विकल्प तो राग है; पर-द्रव्य है; उस विकल्प में ही जिसकी बुद्धि रुकी हुई है, वह मिथ्यादृष्टि है; उस विकल्प के द्वारा आत्मतत्त्व अनुभव में नहीं आ सकता, इसलिए वह विकल्प हेय है। विकल्प रहित होने से जिस सहज आत्मतत्त्व का अनुभव होता है, वह सहज आत्मतत्त्व ही उपादेय है। यहाँ विकल्पमात्र को परद्रव्य में गिना है; अपने शुद्धस्वभाव सम्बन्धी विकल्प करना भी स्वद्रव्य का स्वभाव नहीं है। चौथा बंधतत्त्व है, वह उपादेय नहीं है। मैं कर्म से बंधा हुआ हूँ, ऐसा विकल्प तो हेय है, और मैं कर्म से बंधा हुआ नहीं हूँ–अबंध हूँ; ऐसा रागमिश्रित विकल्प भी हेय है। अबंधस्वभाव तो अपना स्वरूप है, परन्तु 'मैं अबंध हूँ'–ऐसा विकल्प अपना स्वरूप नहीं है, वह परद्रव्य है, इसलिए हेय है।

पांचवाँ संवरतत्त्व है, वह भी हेय है। आत्मस्वभाव के भानपूर्वक अंशतः शुद्धता प्रगट हुई और पुण्य-पाप रुक गये, वह संवर है। संवर स्वतः निर्मल पर्याय है।

प्रश्न :– संवर तो निर्मल पर्याय है, तथापि उसे हेय क्यों कहा?

उत्तर :– संवरतत्त्व के लक्ष्य से विकल्प होता है। संवरतत्त्व और उसके लक्ष्य से होनेवाला विकल्प–इन दोनों का एक मानकर संवरतत्त्व को ही हेय कहा है। 'मैं संवर करूँ'–ऐसा विकल्प करना, सो राग-मिश्रितभाव है, उससे संवरदशा प्रगट नहीं होती। यहाँ एकरूप आत्म-स्वभाव का ही ग्रहण कराना है, उसमें किसीप्रकार के भेद का या विकल्प का स्वीकार नहीं है। संवर तो एक निर्मल पर्याय है। यहाँ पर्यायदृष्टि ही छुड़ाना है, इसलिए संवरतत्त्व भी हेय है अर्थात् उसका लक्ष्य करने योग्य नहीं है। पुण्य-पाप को रोकूँ–ऐसे विकल्प से पुण्य-पाप नहीं रुकते, परन्तु एकरूप आत्मस्वभाव के लक्ष्य से ही पुण्य-पाप रुकते हैं, इसलिए एकरूप आत्मस्वभाव ही उपादेय है। आत्मस्वभाव के लक्ष्य में एकाग्र होने पर संवर, निर्जरा और मोक्ष हो जाता है।

छठवाँ निर्जरातत्त्व है। आत्मस्वभाव की एकाग्रता से शुद्धता बढ़ती है और अशुद्धता दूर होती है, वह निर्जरा है। मलिनता को दूर करूँ और शुद्धता बढ़ाऊँ–ऐसा विकल्प भी होता है; वह विकल्प परद्रव्य है; उसके लक्ष्य से धर्म नहीं होता।

सातवाँ मोक्षतत्त्व है, मोक्ष अर्थात् आत्मा की सम्पूर्ण शुद्धदशा। यह मोक्षतत्त्व भी हेय है। पर्यायबुद्धि-अज्ञानी को ऐसा लगता है कि अरे रे! क्या मोक्षतत्त्व भी छोड़ने योग्य है? परन्तु भाई! मोक्षदशा तो एक पर्याय है, मोक्ष-पर्याय पर जिसका लक्ष्य है, उसे कभी मोक्षदशा नहीं होती। पर्यायदृष्टि छोड़कर सम्पूर्ण द्रव्यस्वभाव को दृष्टि में स्वीकार न करे, वहाँ तक धर्म नहीं होता। मैं मोक्ष करूँ–ऐसे विकल्प परद्रव्यस्वरूप है। मैं आत्मा अपना मोक्ष करूँ–ऐसा विकल्प परद्रव्यरूप है। मैं आत्मा अपना मोक्ष करूँ–ऐसे विचार के द्वारा आत्मतत्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता। इस विचार में तो राग-स्वरूप भेद का विकल्प आता है। अभेद शुद्ध आत्मस्वरूप को ही उपादेयरूप से अंगीकार करके वहाँ एकाग्र होने से सहज मोक्षदशा होती है।

'अपना मोक्ष करूँ'–ऐसा भाव होता है, वह अंगीकार करने योग्य नहीं है; क्योंकि वर्तमान में मोक्षदशा तो नहीं है, इससे उस पर लक्ष्य करने से पर्यायबुद्धि दूर नहीं होगी और आत्मस्वभाव लक्ष्य में नहीं आयेगा। जो त्रिकाली आत्मस्वभाव है, उस पर लक्ष्य करने से ही पर्यायबुद्धि दूर होती है; इसलिए वह त्रिकाली द्रव्य ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त सातों तत्त्व हेय हैं। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! तुझे उपादेयस्वरूप तो एक आत्मस्वरूप है – ऐसा समझकर तू उसकी पहचान कर!

यहाँ, आचार्यदेव, आत्मस्वभाव को समझाते हुए कहते हैं कि, जीव-अजीवादि सात तत्त्वों के विकल्प भी परद्रव्य है, और इन सातों तत्त्वों के विकल्प से अगोचर जो शुद्ध आत्मस्वरूप है, वही एक स्वद्रव्य है, वही जीव है और उसी को अंगीकार करना है; शुद्ध जीव को अंगीकार करने से शुद्धभाव प्रगट होता है। अंगीकार करना अर्थात् उसकी श्रद्धा करना, ज्ञान करना और उसमें लीन होना। जहाँ सातत्तत्त्वों के भेद की श्रद्धा है, वहाँ एक स्वतत्त्व का अनुभव नहीं होता, और एक स्वतत्त्व की श्रद्धा में सातत्तत्त्वों के विकल्प नहीं है। सातत्तत्त्वों के विचार में क्रम पड़ता है और राग होता है; एक स्वतत्त्व की श्रद्धा में भेद नहीं है, राग नहीं है; इसलिए अपना एक शुद्धस्वरूप जैसा है, वैसा जानकर उसमें स्थिर होना चाहिए; वही धर्म और मोक्षमार्ग है।

भगवान महावीर ने किस प्रकार मोक्ष प्राप्त किया?

[श्री वीरनिर्वाण कल्याणक के दिन पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

आज माङ्गलिक दिवस है। वीर भगवान के निर्वाण कल्याणक का दिन है। आज से २४७५ वर्ष पूर्व इस भरत क्षेत्र में महावीर भगवान विराजमान थे; उन महावीर स्वामी का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को हुआ था। उन्हें ७२ वर्ष पूर्ण हुये और निर्वाण प्राप्त किया; उसी निर्वाण कल्याणक का आज दिन है।

महावीर परमात्मा भी, जैसे यह समस्त आत्मा हैं, वैसे ही आत्मा थे, वे भी पहले चार गतियों में भ्रमण करते थे; उसमें वे उन्नति-क्रम में चढ़ते-चढ़ते तीर्थंङ्कर हुए। भगवान चार गति में थे, वहाँ सत्समागम द्वारा अनुक्रम से आत्मा का भान हुआ। जिस प्रकार चौंसठपुटी पीपल को पीसते रहने से वह चरपरी होती जाती है, उसी प्रकार आत्मा में परमानन्द भरा हुआ है, वह प्रयास द्वारा बाहर आता है। भगवान महावीर के आत्मा में परमानन्द भरा हुआ था, उसे स्वतः अनुक्रम से प्रगट करते हैं; मन, वाणी, देह से भिन्नतत्त्व आनन्दमूर्ति हूँ, वैसा भान करते हैं।

आत्मा का चेतना स्वभाव है। चेतना का अर्थ है जानना-देखना; उसमें जितने संयोगीभाव होते हैं, वे पर अपेक्षा के हैं। चैतन्य के शुद्धस्वभाव की जब तक दृष्टि न हो, तब तक अन्तर से विकास होकर स्वतन्त्रता प्रगट नहीं होती अर्थात् मोक्षदशा प्रगट नहीं होती।

काँच के ढ़ेर में यदि हीरा पड़ा हो तो वह हीरा संयोग में पड़ा है, उस हीरे का जो मूल्यांकन करे, वह परीक्षा करके हीरे को काँच से पृथक् करके ले लेता है। इसी प्रकार कर्म संयोग के बीच अनादि का चैतन्यमूर्ति ज्ञानज्योति निराला हीरा पड़ा है, ऐसे चैतन्यस्वरूप को जिसे प्राप्त करना है, वह सत्समागम से चैतन्यमूर्ति आत्मा की बराबर पहचान करके, श्रद्धा करके उस स्वरूप में स्थिर होकर मोक्षदशा प्रगट करता है। इस प्रकार चैतन्यमूर्ति हीरे को श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र द्वारा पृथक् कर लेता है।

महावीर भगवान इस भव से पहले दसवें स्वर्ग में थे; और उससे पूर्व नन्दराजा के भव में आत्मा के भानसहित चारित्र का पालन किया था, नग्न दिगम्बर मुनि हुए थे, उस मुनिपने में स्वरूप की रमणता में लीन थे, वहाँ उस भव में उन्होंने तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध किया था। पुण्य का एक रजकण या शुभभाव का एक अंश उठे, वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह मेरा कर्तव्य नहीं है—ऐसे भान में स्वरूप की रमणता में रम रहे थे। ऐसी दशा की भूमिका में शुभ विकल्प आता है कि अरे रे! जीवों को ऐसे स्वरूप का भान नहीं है। स्वरूप-रमणता से बाहर आने पर ऐसा विकल्प उठा कि अहा! ऐसा चैतन्यस्वभाव! उसे सब जीव किस प्रकार प्राप्त करें! 'सर्व जीव करूँ शासनरसी, ऐसी भाव दया मन उलसी।' सभी जीव ऐसे स्वरूप को प्राप्त कर लें—ऐसा विकल्प आया, परन्तु वास्तव में उसका अर्थ ऐसा है कि अहो! ऐसा मेरा चैतन्यस्वभाव कब पूर्ण हो! मैं कब पूर्ण होऊँ! वैसी भावना का बल है और बाह्य से ऐसा विकल्प आता है कि अहो! ऐसा स्वभाव समस्त जीव कैसे प्राप्त करें! वैसे उत्कृष्ट शुभभाव से तीर्थंकर नामकर्म का बंध हुआ।

जिस भाव में तीर्थंकर प्रकृति की बंध हुआ, वह भाव भी आत्मा को लाभ नहीं करता; वह शुभभाव दूर होगा, तब भविष्य में केवलज्ञान होगा। उस तीर्थंकर पद से जो वाणी खिरेगी, उस वाणी के रजकण, स्वरूप के भान की भूमिका में बंधते हैं। यह राग मेरा कर्तव्य नहीं है—ऐसा भान था और स्वरूप में रमते थे, ऐसी भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति बंधी थी। राग को लाभरूप माने, उस भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता; किन्तु राग मुझे लाभरूप नहीं है, मैं राग का कर्ता नहीं हूँ—ऐसे भान की भूमिका में तीर्थंकर प्रकृति बंधती है।

भगवान महावीर ने नन्द राजा के भव में ऐसी वाणी का बंध किया कि भविष्य में पात्र जीवों

को लाभदायक हो, भवपार का निमित्त हो, दूसरे जीवों के तरने के लिए सर्वोत्कृष्ट निमित्त हो, ऐसी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया और जब तीर्थंकर देव के भव में ध्वनि खिरेगी, तब वह अनेक जीवों को भव से पार होने में निमित्त होगी।

गर्भ-कल्याणक (अषाढ़ शुक्ला ६)

भगवान महावीर के जीव ने नन्दराजा के भव में चारित्र का पालन किया, और पश्चात् अनुक्रम से आयु पूर्ण करके वहाँ से दसवें स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। जब दसवें स्वर्ग में उन देवरूप भगवान की आयु छह महीना शेष रहती है, तब दूसरे देवों को खबर पड़ती है कि छह महीने के पश्चात् भरतक्षेत्र में त्रिशलारानी के गर्भ से भगवान महावीर चौबीसवें तीर्थंकर का जन्म होगा। इसलिए वे देव छह महीने पूर्व माता के पास आकर उनकी सेवा करते हैं। वे माता से कहते हैं कि हे रत्नकूखधारिणी माता! आपको धन्य है, आप की कूख से छह महीने पश्चात् जगदोद्धारक, त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव का जन्म होनेवाला है। देव छह महीने पूर्व माता-पिता के गृह में रत्नों की वर्षा करते हैं। यहाँ उन रत्नों का मूल्य नहीं है, रत्न तो धूल समान हैं; जहाँ अनाज पकता है, वहाँ उसके साथ भूसा तो होता ही है, तीर्थंकर भगवान तो अनाज की फसल साथ लाते हैं और पुण्य तो भूसा है। जहाँ सौ मानी अनाज होता है, वहाँ सौ मन भूसा तो साथ में होता ही है, परन्तु उस भूसे की कीमत नहीं है, अनाज का मूल्य है। किसान भूसे के लिए नहीं बोता, किन्तु अनाज के लिए बोता है। इस प्रकार जहाँ मोक्षमार्ग का अनाज पकता है, वहाँ उसके साथ शुभपरिणाम से तीर्थंकर पद, चक्रवर्ती पद आदि भूसा तो सहज होता ही है, भूसे की इच्छा से भूसा नहीं पकता परन्तु सहज ही पकता है।

जिसके पूर्ण परमानन्द प्रगट हो गया है – ऐसे परमात्मा पुनः अवतार नहीं लेते; परन्तु जगत के जीवों में से एक जीव उन्नतिक्रम से चढ़ता-चढ़ता जगद्गुरु तीर्थंकर होता है। जगत के जीवों की ऐसी योग्यता तैयार होती है, तब ऐसा उत्कृष्ट निमित्त भी तैयार होता है।

जन्म-कल्याणक (चैत्र शुक्ला १३)

महावीर भगवान के गर्भ में आने के पश्चात् अनुक्रम से उनका सवा नौ महीने में जन्म होत है; सौधर्म इन्द्र आदि देव आकर भगवान का जन्म कल्याणक महोत्सव करते हैं। सौधर्म इन्द्र के साथ उनकी सची-इन्द्राणी भी आती है और माता के पास जाकर कहती है – हे रत्नकूखधारिणी माता, तीनलोक के नाथ की जन्मदात्री! तुम्हें धन्य है! ऐसा कहकर भगवान को लेकर सौधर्म इन्द्र को देती है। सौधर्म इन्द्र, भगवान को हजार नेत्र करके देखता है; भगवान को मेरुपर्वत पर ले

जाकर जन्माभिषेक कराता है; वहाँ अठाई महोत्सव करता है। इस प्रकार इन्द्र परमभक्ति पूर्वक भगवान का जन्मकल्याणक महोत्सव करता है।

दीक्षा-कल्याणक (कार्तिक कृष्णा १०)

जन्म होने के पश्चात् महावीर भगवान तीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे, उसके पश्चात् दीक्षा ले लेते हैं। देव आकर दीक्षाकल्याणक महोत्सव करते हैं। प्रभु स्वतः दीक्षित होकर बारह वर्ष तक स्वरूप-रमणता करते हुए विचरते हैं, इच्छा निरोधरूप स्वरूप-रमणता में काल व्यतीत होता है।

केवलज्ञान-कल्याणक (बैशाख शुक्ला १०)

पश्चात् बैशाख सुदी दसमीं के दिन श्री महावीर भगवान को केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान में तीनकाल तीनलोक को हस्तामलकवत् जानते हैं। स्व-पर पदार्थ के अनन्त भाव केवलज्ञान में ज्ञात होते हैं। तीर्थंकर देव को केवलज्ञान होने के पश्चात् तुरन्त दिव्यध्वनि खिरती ही है, दूसरे सामान्य केवलियों के लिए ऐसा नियम नहीं है परन्तु तीर्थंकर भगवान को तो नियमानुसार खिरती ही है। किन्तु महावीर भगवान को केवलज्ञान हुआ, समवशरण की रचना हुई, बारह सभाएँ लगीं, परन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिरी ! इन्द्र को विचार आया कि भगवान की दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती ? इन्द्र ने अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा देखा तो ज्ञात हुआ कि सभा में उत्कृष्ट पात्र जीव नहीं है; गौतम उसके पात्र हैं, वैसा ज्ञात होने पर इन्द्र, ब्राह्मण का भेष रखकर गौतम के पास गया; गौतम चार वेदों में प्रवीण थे, उन्हें चर्चा की बहुत रुचि थी, इससे श्री गौतम स्वामी, महावीर भगवान के पास जाने के लिए निकले। जब गौतम स्वामी मानस्तम्भ के पास आये कि वहाँ उनका मान गल गया, वीर प्रभु के दर्शन करके धर्म प्राप्त किया और मुनदिशा धारण की। भगवान की वाणी को झेल सके ऐसे उत्कृष्ट पात्र गौतमस्वामी के आने से भगवान की दिव्यध्वनि खिरी, गौतमस्वामी चार ज्ञान को प्राप्त हुए और गणधर पदवी प्राप्त की। महावीर भगवान को केवलज्ञान होने के पश्चात् छियासठ दिन में दिव्यध्वनि खिरी; इसलिए अषाढ़ वदी एकम के दिन भगवान की दिव्यध्वनि खिरी। अषाढ़ वदी एकम, शासन-जयन्ती का दिन है, शास्त्रप्ररूपणा का दिन है। केवलज्ञान में अनन्तभाव ज्ञात होते हैं, इसलिए उनकी दिव्यध्वनि में भी अनन्त रहस्य आते हैं; ज्ञान में भाव पूर्ण है, इसलिए वाणी में भी पूर्ण आता है।

केवलज्ञान होने के पश्चात् किसी तीर्थंकर की आयु बड़ी होती है और किसी की अल्प। महावीर भगवान की आयु ७२ वर्ष की थी। इस समय महा विदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान चैतन्यमूर्ति परमात्मा समवशरण में इन्द्र और गणधरादि की बारह सभाओं में विराजमान हैं, उनकी

आयु चौरासी लाख पूर्व की है। जीवन्मुक्तरूप तेरहवीं भूमिका में श्री सीमन्धर स्वामी महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में विराज रहे हैं। उनकी आयु दीर्घ है।

निर्वाण-कल्याणक (कुवांर वदी ३०)

श्री महावीर भगवान परमात्मा ने केवलज्ञान प्रगट किया, इससे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय–इन चार घातिकर्मों का नाश हुआ। केवलज्ञानरूप जीवन्मुक्तदशा में तेरहवीं भूमिका में तीस वर्ष का विचरण किया, पश्चात् चार अघातिकर्म-वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र यह चार कर्म पावापुरी के बाहर उद्यान में नाश किये, पावापुरी के बाहर उद्यान में भगवान आज दिन निर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान को केवलज्ञान तो तीस वर्ष पूर्व हुआ था और निर्वाण आज दीपावली के दिन प्राप्त किया। चौदहवीं भूमिका में, 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' इतने शब्द बोले जायें, उतने समय तक रहते हैं, चौदहवीं भूमिका में प्रदेश का कम्पन दूर हो जाता है और अकम्प होते हैं, पश्चात् शरीर छूटता है और भगवान का आत्मा मुक्त होता है, पारिणामिकभाव पूर्ण प्रगट होता है। जीवान्मुक्त भगवान देहमुक्त होते हैं। जिस प्रकार फली में से दाना अलग होता है, वैसे ही आत्मा अलग होता है और ऊर्ध्वश्रेणी में ऊपर जाता है। ऊर्ध्वमान चैतन्य का स्वभाव है, इससे ऊपर सिद्धक्षेत्र में जाता है। आनन्ददशा, पूर्णानन्द मुक्तदशा तो यहीं प्रगट हुई थी, परन्तु प्रदेश का कम्पन दूर हो जाने से अकम्प होकर देह छूट जाने से वे पूर्णानन्द महावीर भगवान आज देहमुक्त होते हैं। जीवन्मुक्त भगवान आज देहमुक्त हुए। पावापुरी का जो क्षेत्र है, वहाँ से समश्रेणी में ऊपर सिद्धक्षेत्र में महावीर परमात्मा विराजमान हैं। अकेला आत्मा देह से बिलकुल पृथक् हो जाना, उसका नाम मुक्ति है। अपना ज्ञान-आनन्दमूर्ति स्वभाव रह जाना और दूसरा सब छूट जाना, उसका नाम मुक्ति है। भगवान कार्मणशरीर से मुक्त होकर मोक्ष पधारे, उसे आज २४७६ वाँ वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। भगवान महावीर का विरह होने से भक्तों की आँखों से चौधार आँसू गिरते जाते हैं और कहते हैं कि अरे! आज भरत का सूर्य अस्त हुआ। परन्तु भगवान महावीर का आत्मा मुक्त हुआ, इससे उनका निर्वाणकल्याणक महोत्सव भी मानते हैं।

भगवान मोक्ष पधारे, तब पावापुरी में इन्द्र और देवों ने आकर महोत्सव किया; दीपक आदि से महान मांगलिक उत्सव मनाया, इससे आज के दिन को दीपोत्सवी–दीपमालिक–दिवाली आदि कहते हैं।

आजकल तो लोग खाते-बही आदिकी पूजा करके संसार के अर्थ से दिवाली मानते हैं, परन्तु वास्तव में तो आज का दिन आत्मा के पूर्णानन्द स्वभाव को प्रगट करने की भावना का है।

जैसा भगवान का आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है–ऐसा विचारकर स्वभाव का भान करके विभाव परिणामों को स्वरूपस्थिरता द्वारा नष्ट कर दूँ–इस प्रकार वीर्य को उच्च बनाने का आज का दिन है।

जगत् के जीव मरते हैं, तब दुःख मानते हैं, और भगवान की मुक्ति का महोत्सव होता है; क्योंकि वह मरण नहीं किन्तु जीवन है, सहजानन्दस्वरूप में विराजमान रहने का आत्मा का जीवन है, इसलिए उसका महोत्सव होता है। पूर्णानन्द, सहजानन्दस्वभाव में रहना, उसका नाम मुक्ति है। महावीर भगवान के पश्चात् गौतमस्वामी, सुधर्मास्वामी और जम्बूस्वामी–इन तीन पीढ़ियों तक केवलज्ञान रहा, और पश्चात् एकावतारी हुए; इस समय भी एकावतारी हैं। और अभी पंचमकाल के अन्त तक एकावतारी जीव होना हैं। यह पंचमकाल इक्कीस हजार वर्ष का है, उसमें से अभी ढ़ाई हजार पूर्ण हुए हैं, और साढ़े अठारह हजार वर्ष शेष हैं। वे इक्कीस हजार वर्ष पूर्ण होंगे तब, अर्थात् पंचमकाल के अन्त में एकावतारी होंगे। साधु, आर्जिका, श्रावक और श्राविका – यह चारों जीव एक देव का भव धारण करके फिर मनुष्य होकर वहाँ से मुक्त होंगे।

जम्बूस्वामी के पश्चात् भी संत-मुनिओं को चौदह पूर्व का ज्ञान था, तथापि वे एकावतारी हुए, और पंचमकाल के अन्त में चौदह पूर्व का ज्ञान नहीं होगा, परन्तु अल्पज्ञान रहेगा, तथापि वे एकावतारी होंगे; दोनों के एकावतारीपने में कुछ अन्तर नहीं है।

श्री महावीर परमात्मा ने वाणी द्वारा जो स्वरूप कहा, वह गणधरों ने झेला, और वह वाणी आचार्य परम्परा से अभी तक चली आ रही है। इस भरतक्षेत्र में कुन्दकुन्दाचार्य परम गुरुदेव ने शास्त्र की स्थापना की है, श्रुत की प्रतिष्ठा करके अपूर्व उपकार किया है। वह बात ऐसी है कि लोगों को यथावत् जम जाना कठिन होता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने यह समयसार शास्त्र सर्वोत्कृष्ट योग से समझाया है, इस शास्त्र में केवलज्ञान भरा हुआ है।

लोग कहेंगे कि यह तो 'छोटे मुँह बड़ी बात' है। परन्तु अग्नि को बालक छुए या जवान, किन्तु उसकी उष्णता का अनुभव दोनों को समान ही होगा। उसमें कोई अन्तर नहीं हो सकता। अग्नि का स्वभाव जो छह महीने के बालक ने जाना है, वही स्वभाव बड़े पण्डित–वकील और विज्ञानी ने जाना है। दोनों यह जानते हैं कि अग्नि को छूने से गरम लगेगी; उस अग्नि के उष्णता सम्बन्धी दोनों के ज्ञान में कुछ भी अन्तर नहीं है। बालक भी अग्नि उष्ण होने से उसे फिर कभी नहीं छूता और बड़ा भी अग्नि को छूने नहीं जाता। बड़ा आदमी ऐसा कथन करता है कि अग्नि प्रकाशमान है, उष्ण है–आदि, और बालक विशेष कथन नहीं कर सकता; इस प्रकार कथन में अन्तर होता है, परन्तु अनुभव में अन्तर नहीं पड़ता।

वैसे ही त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव तीनकाल और तीनलोक के विज्ञान के पण्डित हैं, उन्होंने जैसा वस्तु का स्वरूप जाना है, वैसा ही अविरती बालक जानता है। वस्तु का स्वरूप जैसा केवलज्ञानी ने जाना है, वैसा ही अविरती बालक ने जाना है। केवली और चौथे गुणस्थान की प्रतीति में कोई अन्तर नहीं है। जैसी स्वभाव की प्रतीति केवलज्ञानी को है, वैसी ही चौथे गुण-स्थानवाला अविरती सम्यक्त्वी गृहस्थाश्रम में राज्य करता हो– युद्ध में खड़ा हो, उसे भी होती है; स्वभाव की प्रतीति में दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। राग का एक भी अंश मेरा स्वरूप नहीं है, वैसी प्रतीति चौथे गुणस्थानवाले सम्यक्त्वी को होने पर भी, वह दया में, दान में, पूजा में, भक्ति में युक्त अवश्य होता है और शुभभाव में भी लगता है, तथापि उस अव्रती सम्यक्त्वी की, केवलज्ञानी की और सिद्ध की स्वभाव की प्रतीति एक ही समान है, उस प्रतीति में किंचित् अन्तर नहीं है, परन्तु ज्ञान और चारित्र में अन्तर है।

निम्न दशावाला वीतराग नहीं है, इससे उसे राग आता है। राग तो निम्नभूमिका में ही होता है न? वीतराग को कहीं राग आता है? चौथी भूमिकावाले को पुण्य-पाप के भाव होते हैं अवश्य हैं, परन्तु वह समझता है कि मेरे पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण यह भाव होते हैं, किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है। अपना स्वभाव नहीं माना, इसी से उन शुभाशुभभावों को अपना कर्तव्य नहीं माना; कर्तव्य तो उसने अपने स्वरूप में स्थिर हो जाना ही माना है। इससे उसका पुरुषार्थ भी उसी प्रकार का होता है। और जब-जब वह अव्रती सम्यग्दृष्टि स्वरूपस्थिर हो जाता है, तब अंशतः सिद्ध समान अनुभव करता है।

महावीर भगवान समवशरण में दिव्यध्वनि द्वारा कह गये हैं कि पंचमकाल के अन्त तक एकावतारी जीव होना हैं। केवलज्ञानी परमात्मा की जैसी स्वभाव का प्रतीति है, वैसी प्रतीति चौथे गुणस्थानवाले के होती है। जैसा एकावतारीपना पंचमकाल के प्रारम्भ के चौदह पूर्वधारी मुनिओं को था, वैसा ही पंचमकाल के अन्त के जीवों को भी होगा। वे जीव भी आत्मा का मान करके स्थिरता के बल की भावना से एक भव में मुक्ति प्राप्त करेंगे। इस प्रकार दोनों के मुक्ति के फल में कुछ भी अन्तर नहीं है; प्रारम्भ और अन्त दोनों समान हो गये। ज्ञान की न्यूनाधिकता है, तथापि मुक्ति के फल में कोई अन्तर नहीं है। २१ हजार वर्षों तक लाखों-करोड़ों में कोई एक जीव आत्मभान करके इस शासन में एकावतारी होता रहेगा–ऐसा भगवान महावीर स्वमी कह गये हैं। सम्यक्त्वी जीव और केवलज्ञानी दोनों श्रद्धा में समान, और प्रभु के पश्चात् होनेवाले सन्तमुनि तथा अन्त तक के सम्यक्त्वी जीव एकावतारीपना प्राप्त करेंगे। उस मुक्ति के फल में दोनों समान; पहली

श्रद्धा और दूसरा मुक्ति के फल का अन्त–दोनों समान हो गये। प्रारम्भ और मुक्ति का फल दोनों समान हो गये।

महावीर स्वामी आज मोक्ष पधारे; महावीर भगवान की वाणी परम्परा से अभी तक चली आ रही है। यह जो वाणी कही जा रही है, यही वह वाणी है। जगत को बैठे या न बैठे, परन्तु ऐसी ही है।

साधु अर्जिका, श्रावक और श्राविका पंचमकाल के अन्त में भी आत्मा का भान करके एकावतारीपना प्राप्त करेंगे, तब फिर इस समय क्यों नहीं हो सकता? छोटी–सी बालिका भी आत्मभान कर सकती है; सभी का आत्मा तीनलोक का नाथ है, इसमें कोई अन्तर नहीं हैं। शरीर में अन्तर है। वह बालिका भी, यह जैसा पर से निराला आत्मा का स्वरूप कहा जा रहा है, वैसी श्रद्धा कर सकती है। पंचमकाल के अन्त में आत्मभान कर सकते हैं, तब इस समय तो अवश्य ही किया जा सकता है।

इस समय आत्मभान किया जा सकता है, परन्तु पूर्ण वीतरागता नहीं की जा सकती; क्योंकि पूर्व में स्वतः वीर्य को विमुख डाल रखा है, उस वीर्य को इस समय सन्मुख करने में महान पुरुषार्थ चाहिए; उतना पुरुषार्थ इस समय स्वतः नहीं कर सकता, इसलिए इस समय पूर्ण वीतरागता नहीं हो सकती। उसमें अपने पुरुषार्थ की अशक्ति का कारण है। स्वतः ही पूर्व में विमुख वीर्य डाला है, इससे सन्मुख करने में देर लगेगी, इसलिए अपना ही कारण है।

आत्मा में अखण्डानन्द स्वभाव भरा है। जिस प्रकार दियासलाई को घिसने से तुरन्त अग्नि प्रगट होती है, वैसे ही चैतन्यमूर्ति आत्मा में अनन्त स्वभाव भरा हुआ है; वैसे आत्मा की श्रद्धा करे कि मैं अखण्ड पूर्णानन्दस्वरूप हूँ–ऐसी श्रद्धा की अग्नि सुलगाई कि उसमें से केवलज्ञानरूपी ज्वाला अवश्य प्रगट होगी। अपने सच्चिदानन्दस्वरूप का भान करके समझे कि मेरे पुरुषार्थ की अपूर्णता से एक-दो भव हैं। अपनी अपूर्णता को समझता है, इससे पुरुषार्थ जागृत करके अवश्य केवलज्ञान प्रगट करेगा।

सच्चा श्रवण करके सच्ची प्रतीति करे, और उसमें जो शुभ-परिणाम हो, अर्थात् तत्त्व ही सन्मुखता में जो शुभ विकल्प हो, और उस विकल्प से जो पुण्य बंधे, उसका समूह उल्लसित हो, वैसे पुण्य का समूह अन्य कहीं नहीं बंधता। वैसे पुण्य की भी तत्त्वश्रद्धावाले को इच्छा नहीं है। उस श्रद्धा के बल से पुण्य को तोड़कर अवश्य केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

यह बात समझ में नहीं आती, ऐसा नहीं मानना, और ऐसा भी न मानना कि अमुक जीव

ने गतकाल में अनेक पाप किए थे, इसलिए वह नहीं समझेगा। अरे! कल का पापी, आज यदि आत्मा का भान करे तो हो सकता है। सत्-समागम करके कोमल हो, कुलांट खाये और सीधा गिरे तो क्षणमात्र में केवलज्ञान प्राप्त करे। कल का लकड़हारा आज केवलज्ञान को प्राप्त हुआ और देवों ने आकर महोत्सव किया – ऐसे अनन्तकाल में अनन्त उदाहरण बने हैं। कल का चोर आज धर्मी हो जाये, सन्मुख गिरे तो क्षण में केवलज्ञान प्राप्त करे। इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि कल का पापी आज धर्मात्मा नहीं हो सकता।

लोग पापी को देखकर तिरस्कार करते हैं, परन्तु भाई! वह भी आत्मा है, प्रभु है। उसका अपराध जानकर तू क्षमा कर, समता रख। यदि वह सन्मुख पड़ेगा, तो कल ही अपराध दूर करके आराधक हो जायेगा, उसका आराधकत्व उसी के हाथ में है; वह जब करेगा, तब उसी से होगा। तू अपना आराधकत्व कर! तेरा आराधकत्व तुझसे ही है।

जो यह महावीर भगवान की बात कही जा रही है, वैसे स्वरूप को जो प्रगट करेगा, वह मुक्ति को पा जायेगा। जैसा स्वरूप महावीर भगवान के आत्मा का है, वैसा ही समस्त आत्माओं का है। आज महावीर भगवान का गुणगान किया, वह अपने स्वरूप को प्रगट करने के लिए है। वैसे स्वरूप को समझे तो इस समय भी एकावतारीपना प्रगट किया जा सकता है।

जीव का कर्तव्य

अहो! धर्मात्मा जीव को जीवन में यदि कुछ करना हो तो आत्मा और ज्ञान की सम्पूर्ण एकता ही करना चाहिए; वही करना है। पहले राग से भिन्नता और ज्ञान के साथ आत्मा के एकत्व की श्रद्धा करना और पश्चात् ज्ञान को स्वरूप मे स्थिर करके वीतरागभाव प्रगट करके सम्पूर्ण एकता करना चाहिए – इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ करनेयोग्य नहीं है। इसी में मोक्षमार्ग या धर्म, जो कहो वह आ जाता है। किसी भी पर के कारण ज्ञान विकसित होता है– ऐसा जिसने माना है, उसने राग के साथ ही ज्ञान की एकता की है; ऐसा अज्ञानी जीव प्रत्येक संयोग के समय ज्ञान और आत्मा की एकता को तोड़ता है, वह अधर्म है। ज्ञान के साथ आत्मा की एकता की, और रागादि से भिन्नता की श्रद्धा से ज्ञानी जीव को चाहे जैसे प्रसंग के समय भी प्रतिसमय स्वभाव में ज्ञान की एकता बढ़ती जाती है, और राग टूटता जाता है, वह धर्म है।

– भेदविज्ञानसार

सत्य-स्वरूप

अपना शुद्धात्मा किस प्रकार ज्ञाता होता है? बाह्य क्रिया में शुभराग से नहीं; परन्तु अन्तर में ज्ञान की क्रिया से आत्मा समझ में आता है, सच्चे ज्ञान के द्वारा आत्मा जाना जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य उपायों से वह समझ में नहीं आता। जैसा सत्य स्वरूप है, वैसा अपने ज्ञान में स्वीकार करने से सत् प्रगट होता है, परन्तु स्वरूप को अन्य प्रकार से मानने से सत् प्रगट नहीं होता। अज्ञानी जीव असत्य को सत्य मानकर उसका सेवन करते हैं, इससे कहीं उन्हें सत्यधर्म प्रगट नहीं होता और जो सत्यस्वरूप है, वह विपरीत हो जाता है।

(– नियमसार गाथा ३८ के प्रवचनों से)

अवश्य पढ़िये!

पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत ग्रन्थों पर,
एवं अन्य अध्यात्मग्रन्थों पर किये गये विस्तृत विवेचन :-

समयसार-प्रवचन (प्रथम भाग)

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा, पृष्ठ ४८८, पक्की जिल्द मूल्य छह रुपये, डाकव्यय दस आने अतिरिक्त।

मुक्ति का मार्ग

अरिहन्तदेव का स्वरूप और सर्वज्ञसिद्धि पर युक्तिपूर्ण विवेचन ग्रन्थ। मूल्य दस आने, डाकव्यय माफ।

मूल में भूल

उपादान-निमित्त संवाद को लेकर अद्भुत विवेचनपूर्ण ग्रन्थ। मूल्य बारह आने, डाकव्यय माफ।

आत्मधर्म की फाइलें

प्रथम वर्ष-पृष्ठ १८८, प्रवचन २००। द्वितीय वर्ष पृष्ठ २१६, प्रवचन १०८। तृतीय वर्ष पृष्ठ २५०, प्रवचन १२५। प्रत्येक वर्ष की सजिल्द फाइल का मूल्य पौने चार रुपये।

आत्मधर्म (मासिकपत्र)

अध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व संग्रह जो आपके हाथ में है। वार्षिक मूल्य तीन रुपये।

—: मिलने का पता :—

१- श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२- अनेकान्त मुद्रणालय,
मोटा आंकड़िया (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया-सौराष्ट्र